

## गुजरात जनसंहार: एक नुक्कड़ नाटक –दो अनुभव

इक्कसवीं सदी का उषःकाल –वर्ष 2002। गुजरात में फरवरी अंत से शुरु हो कर करीब तीन महिने तक चला मुस्लिम समुदाय का जनसंहार। 'एक्शन का रिऐक्शन' के तर्क से राज्य सरकारने जिसे वाजीब करार दिया था वह हिंसा और आतंक का नंगा खेल, नीरो ने जलाये हुए रोम से भी शायद ज्यादा भयावह और दूरगामी था।

अकेले अहमदाबाद शहर में 65 से 70 जितनी मुस्लिमों की राहत शिविरें करीब एक लाख से ज्यादा लोगों की पीडाएं और चीखों से दिन-रात सिसकती, चीखती रहती थीं। गिनेचुने सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता, कुछ संवेदनशील नागरिक, कुछ सामाजिक संस्थाएँ शांति स्थापित करने और दंगाग्रस्तों के लिये राहत सामग्री जुटाने में अपनी नींदे गंवा रहे थे।

वह एक ऐसा घना-काला समय था जो 1984 के 'सिख जनसंहार' और 1992 के 'बाबरी ध्वंस' के बाद अंधेरे और प्रत्याघातों की ओर धंस रही समूचे देश की बिनसांप्रदायिक और प्रजातांत्रिक राजनीति को घने अंधकारवाले दशकों की ओर ले जानेवाला आखिरी मोड़ साबित होनेवाला था। आज उस मोड़ के एक दशक बाद, उसके राजनैतिक-सांस्कृतिक प्रभावों को देश के राजनैतिक परिदृश्य में हम बखूबी और साफ देख सकते हैं। वह मोड़, गुजरात को अस्सी के दशक से सांप्रदायिक और सांस्कृतिक फासीवाद की प्रयोगशाला बनाने में जुटी 'हिंदु राष्ट्रवादी' ताकतों का आखिरी 'ऐटम बॉम्ब' था।

उस जनसंहार के दौरान, गुजरात के नामी और प्रतिष्ठित माने जानेवाले कलाकार, साहित्यकार में से ज्यादातर जनसंहार को समर्थन दे रहे थे और बाकी बचे कुछ, उस अगनखेल के सामने आंखे मुंदकर अपनी मुंडी घुमा लेते थे। क्यों? यह तो वे ही जाने, पर हमारे जैसे चंद सांस्कृतिक कर्मशीलों के लिए वह बौखला देनेवाली बेचैनी का समय था। हमें याद आया नुक्कड़ नाटक।

याद तो आया। और करना भी चाहिए। क्योंकि यही तो वह माहौल था जब थिएटर के उस राजनैतिक रूप का हम अधिक से अधिक प्रभावक तरीके से इस्तेमाल कर सकते हैं। पर बड़ा सवाल यह था कि, करने के लिये कलाकार या युवा साथियों को कैसे और कहां से जुटायें? कौन तैयार होगा? अगर मान लो कुछ युवा या छात्र-छात्रायें तैयार भी होंगे तो हिंसा, करफ्यू और आतंक के उस माहौल में उनके परिवार उन्हें आने देंगे? अभी तो यह मार्च महीना चल रहा था। जनसंहार चरम पर था।

पर तैयार हो गये। हमारी तीन-चार दिन की कोशिशों में ही करीब पंद्रह जितने अमेच्योर कलाकार और छात्र-छात्रायें मिल गये जो अहमदाबाद के हिंसाग्रस्त विस्तारों में और राहत शिविरों में नुक्कड़ नाटक करने के लिये तैयार थे। बिरादर डो. सरूप ध्रुवने एक प्रभावशाली 'एजिट प्रोप' समान नुक्कड़ नाटक लिख दिया। नाम रखा गया

'दिलमां छे एक आश' (दिल में है एक आस)

रिहर्सल्स शुरु हुई। पहले दो दिन के दौरान ही ज्यादातर कलाकार साथियों को स्क्रिप्ट एकपक्षी, पूर्वग्रहयुक्त और 'हिन्दु विरोधी' लगी। कुछ चर्चाओं के बाद हमने रिहर्सल्स मुलत्वी कर दीं। दो दिन तक

लगातार हम नाटक की पूरी टीम को अलग अलग राहत शिविरों में घूमाते रहे। उनको घंटों तक दंगा पिडीतों के साथ बातचीत कराई। तीसरे दिन सब कलाकार स्क्रिप्ट के साथ सहमत हो गये। फिर से शुरु हुई रिहर्सल्स।

करीब एक हफ्ते में, मार्च के अंत तक तैयार हो गया नाटक। हमारी तय रणनीति के मुताबिक हम शुरु के दो हफ्ते सिर्फ जहां हिंसा हुई थी उसी जगहों पर नाटक प्रस्तुत कर के वहां के स्थानीय निवासीओं (जो गैरमुस्लिम थे) के साथ उस जनसंहार के बारे में चर्चा छेड़ना चाहते थे।

शुरु हुए प्रयोग। उन्हीं इलाकों में। हर रोज दो या तीन जगहों पर प्रस्तुती करते थे। उन इलाकों में ज्यादातर लोग पूरा नाटक देखने रुकते ही नहीं थे। कुछ महिलायें, बच्चे देखते थे। दूर से खड़े रहकर छिटपुट युवा लडके देख लेते थे। प्रस्तुति के बाद चर्चा करने तो दो-चार लोग ही रुकते थे। हां, जो पुलिस और मिलीटरी के जवान वहां ड्यूटी पर होते थे वे पूरा नाटक ध्यान से देखते थे।

खैर, उन इलाकों में चर्चाओं के दौरान हमें कहीं कहीं पछतावा दिखा, कहीं कहीं दंगाग्रस्तों के प्रति अनुंकपा भी देखी, सुनी, तो कहीं कहीं दंगा रोक ना पाने की मजबूरी भी। उन इलाकों में, नाटक के दौरान आते-जाते और दूर या छत पर खड़े हो कर देखनेवालों की ऐसी कई कोमेन्ट्स भी कई बार सुनाई दी –‘जो हुआ, ठीक ही हुआ’; ‘जो हो रहा है, ठीक ही हो रहा है’; ‘सबक सिखा दिया उनको’; ‘अब कभी हमारे साथ आंख मिलाने की हिंमत नहीं करेंगे’।

अब बारी थी राहत शिविरों की। हम जानते थे वहां इस नाटक को लेकर हमें कई मुश्किल चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। पर हम तैयार थे। पहले दो दिन में करीब पांच या छह शिविरों में नाटक पेश किया। और उन सभी प्रयोग के दौरान हर बार युवा कलाकारों ने जो प्रतिक्रियाएँ देखी उस से तो वे सब बौखला ही गये। दूसरे दिन शाम को उनमें से ज्यादातर साथीओं ने हमें कह दिया। –“हम शिविरों में नाटक नहीं करेंगे। और ऐसा नाटक किसी को शिविरों में करना भी नहीं चाहिये”।

कलाकारों और छात्र-छात्राओं की उस मनोभावनाओं को हम अच्छी तरह से समझ सकते थे। मध्य-वर्ग में पले बढे और पीडितों के प्रति सहानुभुति रखनेवाले उन युवाओं के लिये, नाटक के दौरान दंगाग्रस्तों में जो प्रतिक्रियाएँ दिख रहीं थीं, उसको सह पाना बहुत मुश्किल था। होता यह था कि, नाटक में दूसरा दृश्य ही था –28 फरवरी, 2002 का। गोधरा में ट्रेन का डिब्बा जलने के दूसरे दिन के उस दृश्य में दंगाईयों के टोलों ने फैलाये हुए आतंक की प्रतिक्रियाएँ पेश होती थी। मारकाट, आगज़नी, सामूहिक बलात्कार, भगदड़, अफरातफरी, चीखें इत्यादि। और उसी दृश्य के दौरान हर शिविर में दो-तीन महिलायें, बच्चियां बेहोश हो जाती थीं। नाटक के दौरान और बाद में भी पूरी शिविर में सिसकीयां, रोने की आवाजें, चीखें और आक्रोश फूटते रहते थे। नाटक के बाद हर शिविर में करीब पंद्रह-बीस मिनट तक यही सब चलता रहता था। बाद में थोड़ी-बहुत चर्चा हो पाती थी।

कलाकार साथियों को हमने नाटक का मकसद और दंगाग्रस्तों की इन प्रतिक्रियाओं के पीछे की मानसिकता समझाने की कोशिश की। लेकिन वह सब बहुत ही विक्षिप्त थे। उसी समय हमें याद आये बेंगलोर की ‘निम्हान्स’ (नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ मेन्टल हेल्थ एन्ड न्यूरो सायन्सीस) संस्थान के डायरेक्टर डॉ. के. शेखर। उस जनसंहार के दौरान मानसिक स्वास्थ्य के वह राष्ट्रीय संस्थान के कुछ छात्र-छात्रायें और

अध्यापकगण दंगाग्रस्तों के 'कम्युनिटी काउन्सेलींग' और 'मास काउन्सेलींग' के लिये गुजरात में स्वैच्छिक सेवायें दे रहे थे। डॉ. शेखर बीच बीच में आते थे और जरूरी मार्गदर्शन देते थे। वह दो-तीन दिन बाद अहमदाबाद आनेवाले थे। हमने कलाकारों को समझाया कि, उनके आने तक हम नाटक रोक देते हैं। उनके आने के बाद आप उनके साथ दंगाग्रस्तों की ये प्रतिक्रियाएँ और आपकी अनुभूतियों को 'शेअर' करिये। और देखें कि उनकी क्या राय बनती है। कलाकार साथी राजी हो गये।

तीन दिन बाद डॉ. शेखर के साथ मुलाकात और चर्चा शुरू हुई। कलाकारों ने भावुक होकर पूरे घटनाक्रम का ब्यौरा उनके समक्ष रखा। करीब एक घंटे तक डॉ. शेखर सब की बातें शांति से सुनते रहे। फिर उन्होंने कुछ सवाल पूछने शुरू किये। पहला सवाल था—

“आपके परिवार में किसी की अगर मौत हो जाये; और निकट का कोई स्वजन अगर मूढ़ हो जाये, तो परिवारवाले उसके साथ क्या करते हैं?”

“मूढ़ व्यक्ति को झकझोरते हैं... चांटा मारते हैं”। जवाब आया।

“क्यों?” दूसरा सवाल।

“ताकि मूढ़ व्यक्ति की बंधी हुई घिग्घी छूट जायें और वह फूटफूटकर रो पड़े”। “उसके दिल में रूकी हुई भावनाएँ फूटकर बाहर निकल आये और व्यक्ति हल्का महेसूस करने लगे”।

अब डॉ. शेखरने बात आगे बढ़ाना शुरू किया। उन्होंने कलाकारों को समझाया कि, आप लोग भी अपने नाटक के माध्यम से दंगाग्रस्तों को वही सब याद दिला रहे हो जो उनकी नज़रों के सामने हुआ है। जो उन्होंने आतंकित होकर भोगा है। उस सब के दौरान उनकी जो भावनायें मूढ़ हो गई हैं, उनको आपका नाटक झकझोरता है, चांटा मारता है। और वह रुकी हुई भावनाएँ बेहोशी के रूप में, फूटकर रोने के रूप में, चीखने-चिल्लाने के रूप में बाहर निकल पडती हैं। आप नाटक करने के दूसरे दिन शिविर में जा कर उन्हीं लोगों को मिलोगे तो उनके व्यवहार में आपको कुछ हल्कापन महेसूस होगा।

डॉ. शेखरने युवा साथियों को प्रोत्साहित करते हुए ये भी समझाया कि, एक तरह से, इस नाटक के माध्यम से राहत शिविरों में आप दंगाग्रस्तों के साथ, 'हमारा काम' कर रहे हो। उनका सामुदायिक काउन्सेलींग करते हो, उनकी अवरुद्ध संवेदनाओं को जाग्रत करते हो, उनकी जीजीविषा को पुनःजीवीत करते हो। हमारे मनोविज्ञान की परिभाषा में इसको 'वेन्टिलेशन थेरापी' कहते हैं।

युवा साथियों को ये सुनकर काफी राहत मिली। उनको भरोसा हो गया कि, हम दंगाग्रस्तों के साथ इस नाटक के माध्यम से कुछ गलत नहीं कर रहे हैं; बल्कि उनका कुछ भला ही कर रहे हैं। हमने फिर से नाटक शुरू किया। और उसके प्रयोग अहमदाबाद की राहत शिविरों में जून के प्रारंभिक हफ्ते तक चलते रहे।

इसी दौरान, दंगाग्रस्तों की एक बड़ी राहत शिविर में हमें जो एक दूसरा अनुभव हुआ वह जनसंहार के दूरगामी प्रभावों को उजागर करनेवाला था। उस अनुभव ने हमें सिर्फ व्यथित ही नहीं, चिंतित भी कर दिया।

वह एक ऐसी शिविर थी, जो जनसंहार के दूसरे-तीसरे दिन से ही अस्तित्व में आ चुकी थी। हमारी 'नागरिक पहल' के माध्यम से, हम शुरु से ही उसके संचालकों और दंगाग्रस्तों के साथ संपर्क में थे। 'नागरिक पहल' के दो-तीन साथी दिन-रात वहीं रह कर वहां की जरूरतों और समस्याओं के बारे में हमें अवगत कराते थे। और हम लोग हो सके उतनी कोशिशें कर के, उन जरूरतों या समस्याओं को हल करने के प्रयास करते थे।

हमने सब इस नुक्कड़ नाटक का वहां प्रयोग तय किया तो हमने वहां के मेनेजर से एक दिन पहले ही संमति ले ली और दोपहर का समय तय किया। दूसरे दिन हम पूरी टीम को लेकर शिविर में पहुंचे। जा कर बीच के चौक में नाटक करने की तैयारी कर ली। तीन-चार कलाकार ढोलक और डफली बजाने लगे। बाकी के कलाकार लयबद्ध तालीयां बजाते बजाते दंगाग्रस्तों को चौकमें इकट्ठा करने लगे। अभी ये सब शुरु ही हुआ था कि, शिविर का मेनेजर भागता हुआ आया और जोर से चिल्लाया—

“बंद करो ये गाना-बजाना, यहां ये सब नहीं चलेगा”।

हम लोग भौंचक्के रह गये। कहा, ये तो नुक्कड़ नाटक की शुरुआत में लोगों को इकट्ठा करने के लिये कर रहे हैं। उसने पूछा, “नाटक में भी ढोल और डफली बजेगी?” हमने कहा, “हां, जरूरी है।” तुरंत ही उसने बोल दिया—

“तो यहां ये नाटक नहीं होगा।”

हमने पूछा, “क्यों?”

“हमारे मझहब में गाने, बजाने, नाचने की मनाई है।”

हमारा आश्चर्य और बढ़ गया। आज तक इसी मझहब की किसी भी राहत शिविर में हमें नाटक करने से किसीने रोक नहीं था। तो फिर ये मेनेजर क्यों रोक रहे थे? हमने और 'नागरिक पहल' के वहां के साथियों ने उन्हें समझाने की कोशिश की। कुछ शिविर निवासी भी हमारे साथ जुड़े। उनको दूसरी शिविरों में संपर्क करने के लिये भी समझाया, जहां हमने ये नाटक किया था। पर वह कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे। शिविर के लोगों को उन्होंने चिल्लाकर भगा दिया, और हमें भी शिविर से बाहर जाने को कहा।

जो माहौल था और मेनेजर जिस तरह से मझहब के फतवे पर चिपके हुए थे, उस में हम सब के लिये वहां से निकल जाना ही मुनासिब था। हम निकल गये लेकिन मन में कई सवालों को लेकर।

एक सवाल तो यह था कि, “ऐसे जनसंहार और सांप्रदायिक दंगे अल्पसंख्यकों को कितनी कुंठित और कट्टर धार्मिकता की ओर धकेल देते हैं?”

और दूसरा सवाल था, “कौम, संप्रदाय या समुदायकेन्द्री प्रत्यक्ष या/और अप्रत्यक्ष हमले असरग्रस्तों की सिर्फ भौतिक आवश्यकताओं को ही 'घेटोइज़' में परिवर्तित नहीं करते हैं पर उनकी धार्मिकता और मानसिक चेतनाओं को भी 'घेटोआइज़्ड' कर देते हैं।

अंत में इतना ही कहूंगा। –पिछले दो दशकों से नुक्कड़ नाटक, अपनी वर्गीय चेतना और जनवादी राजनैतिकता की पहचानों से भ्रमित हो रहा है। बाजार और सरकारों का 'ढोल' बनता जा रहा है। तो दूसरी ओर युवाओं तथा छात्र-छात्राओं के लिये विश्वविद्यालयों में 'म्युझियम पीस' या स्पर्धाओं का मनोरंजक साधन बनता जा रहा है। ऐसे माहौल में इस तरह के अनुभवों को बांटना अत्यंत आवश्यक बन जाता है। ताकि नुक्कड़ नाटक को हम जनवादी राजनीति के एक अ-चूक साधन या शस्त्र के रूप में फिर से स्थापित कर सकें।

–हिरेन गांधी

27 नवंबर, 2013

[ लेखक की प्रकाशित हो रही 'स्ट्रीट थिएटर' नामक गुजराती किताब में से ये दो अनुभव].

(‘नटरंग’ के लिये)

संपर्क: [darshan.org@gmail.com](mailto:darshan.org@gmail.com)